संत काव्य की प्रासंगिकता - कबीर के संदर्भ में

डॉ. रवीन्द्रनाथ मिश्र

संतकाव्य मध्यकालीन भक्ति आन्दोलन की उपज है। जो कि तत्कालीन राजनीतिक व्यवस्था के समानांतर उठ खड़ा हुआ था, जिसका प्रभाव भारत में कई शताब्दियों तक रहा और आज भी विद्यमान है। भक्ति आन्दोलन ऐश्वर्य और भोग का आंदोलन न होकर त्याग, तपस्या एवं पीड़ित जन को एकीकृत करने के प्रति समर्पित था। जो घट-घट में राम को ढूँढकर सबको सीयराममय मानकर प्रणाम करता था। जहाँ एक तरफ हिंसा, लोभ क्रोध, छल-प्रपंच, अत्याचार, दुराचार और निरंकुश राजतंत्र की भयंकरता की तुरही बज रही थी, वहीं पर पवित्रात्मा, परोपकारी एवं सदाचारी संत चित्त की शुद्धता पर बल देते हुए मानुष प्रेम को वैकुण्ठी बताकर जनता को मानवतावाद का संदेश दे रहे थे। वेदशास्त्र की बातों को नकारते हुए कागज की लेखी पर विश्वास न करके आंखों की देखी को सही बता रहे थे। जबकि इसके पूर्व शास्त्र वचन अकाट्य माने जाते थे और वेद को न मानना यानी भगवान को चुनौती देना था। इस प्रकार संत एवं भक्त कवि अपने-अपने ढंग से राजनीतिक सत्ता को चुनौती दे रहे थे।

संतकाव्य की विशेषता यह है कि इसमें शास्त्रीयता का विरोध एवं लोकचेतना की क्रान्तिकारी भावना निहित है। जो कि अनुभूति और अभिव्यक्ति के दोनों धरातलों पर हुई। जिसका संबंध तत्कालीन जीवन-शैली और जीवन तथ्यों से हुआ और इसका प्रभाव दूरगामी रहा।

किसी कवि के साहित्य की प्रासंगिकता का अर्थ वर्तमान संदर्भ में उसकी उपदेयता का विवेचन है। इसीलिए कबीर-साहित्य की प्रासंगिकता से तात्पर्य आज के समाज के लिए उनके साहित्य की समीचीनता से है।

अब प्रश्न यह उठता है कि क्या पन्द्रहवीं शताब्दी का रहस्यवादी संत बीसवीं शताब्दी के इस अतियथार्थवादी और भौतिकवादी वैज्ञानिक चरण के लिए उपयोगी है? क्या 'मसि कागद छुयौ नहिं, कलम गह्यो नहीं हाथ' की घोषणा करने वाला एक वाणी विधायक आज के अतिबुद्धिवादी विद्वत समाज के लिए कोई संदेश छोड़ गया है? आखिर क्या कारण है कि उत्तर आधुनिकता के दौर में हमें संत एवं भक्त कवि याद आने लगे हैं? क्योंकि आज का जीवन कबीर, जायसी, सूर, तुलसी और मीरा का जीवन नहीं है। दूसरे आज की कविता अध्यात्म, धर्म और सम्प्रदाय से प्रायः नहीं जुड़ी है प्रत्युत समाजिक, आर्थिक और राजनीतिक प्रभावों से ग्रस्त है और एक तरह से भावुकतामुक्त भी। आज तो 'मैं तो कूता राम का', एक हूतो सो गयो श्याम संग', 'कामहि नारि पियारि जिमि', 'मोरे तो गिरधर गोपाल', वाली बात भी नहीं है क्योंकि आधुनिक मानव जीवन-दृष्टि का निर्माण विज्ञान के नवीन अनुसंधानों के आलोक में हो रहा है। वह प्रत्येक समस्या का समाधान बौद्धिकता के स्तर पर ढूँढता है। यह संसार उसके लिए, पानी केरा बुलबुला, और कागज की पुड़िया नहीं वरन, एक वास्तविकता है। वह जानता है कि मनुष्य की सामाजिक, आर्थिक स्थिति उसके पूर्व जन्मों के कर्मों का परिणाम नहीं वरन्, इसके मूल में अधिकार एवं शक्ति सम्पन्न उच्चवर्गीय मानवों का स्वार्थभाव है।

आज के मानव के लिए धर्म, दर्शन, कला और नैतिकता के आदर्श उसकी कामभावना एवं अहं के द्वन्द्व उसकी मानसिक वृत्तियों के उदात्तीकरण के परिणाम हैं। मार्क्स, फ्राइड एवं अन्य पाश्चात्य विचारकों के प्रभाव के कारण पाप, पुण्य और नैतिकता आदि बातें अप्रभावित हो रही हैं। सत्य, न्याय, ईमानदारी, निष्ठा और कर्त्तव्यपरायणता जैसे मानवीय मूल्य समय के साथ बदल रहे हैं। समकालीन कवि मणिमधुकर लिखते हैं कि –

> "श्रद्धा, सम्मान और प्रेरणा जैसे शब्दों को,
> पान की पीक के साथ थूकता हूँ मैं"।

दरअसल भौतिक एवं पूंजीवादी व्यवस्था के साथ-साथ यांत्रिक शक्ति का विकास होता गया। यंत्रों के बीच रहते हुए हम यांत्रिक हो गए। इसका परिणाम यह हुआ कि हमारी संवेदनाएँ भी मरने लगीं। मनुष्य अकेला पड़ता जा रहा है। भीड़ तो बढ़ रही है, लेकिन समुदाय नहीं बन पा रहा है। मोहन राकेश के 'आधे-अधूरे' की तरह हम भी पूरे नहीं हो पा रहे हैं। संशय की रात और अंधेरे में हम

भटक रहे हैं। युग की भयावहता बढ़ती जा रही है। पहले व्यक्ति से समष्टि का निर्माण हुआ था। आज हम समष्टि से व्यक्ति की तरफ अग्रसर हो रहे हैं। भीड़ में खड़ा आदमी अपने को अकेला पा रहा है। मनुष्यत्व एवं मातृत्व समाप्त होता जा रहा है। पारिवारिक एवं सामाजिक रिश्ते बिखर रहे हैं। मनुष्य कुँठा, अविश्वास, सन्देह एवं अजनबीपन की स्थिति में जी रहा है। इससे मुक्ति पाने के लिए हास्य संस्थाओं का गठन हो रहा है। संचार माध्यमों के द्वारा जो कुछ परोसा जा रहा है उससे हमारी परंपरागत जीवन शैली तो नष्ट हो ही रही है साथ ही अवांछित वस्तुओं के संग्रह की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। इससे संतोष के स्थान पर असंतोष बढ़ता जा रहा है। प्रतिदिन नई-नई समस्याएँ उत्पन्न हो रही हैं। जयशंकर प्रसाद के शब्दों में –

"यह अभिनव मानव प्रजा सृष्टि
द्वयता में लगी निरंतर ही वर्णों की करती रहे वृष्टि,
अनजान समस्याएँ गढ़ती रचती हो अपनी ही विनष्टि,
कोलाहल कलह अनंत चले, एकता नष्ट हो, बढे भेद ।।

उपर्युक्त स्थितियों में आज हमें संत एवं भक्त कवि याद आ रहे हैं। इनकी रचनाओं में हमें जीवन का यथार्थ पारिवारिक संवेदना, मूल्यों और आदर्शों की स्थापना एवं जीवन-जगत की वे तमाम बातें पायी जाती हैं, जिन्हें कि हम रोजमर्रा के जीवन में जीते हैं। पांच-छः सौ वर्षों के बाद भी वही ताजापन विद्यमान है। अपनी ताजगी के कारण इन संतों और भक्तों की रचनाएँ और भी जवान होती जा रही हैं। आखिरकार जवानी का लक्षण उसका नयापन होना ही तो है।

विषय को अधिक विस्तार न देते हुए हम नवल किशोर के इस कथन के पश्चात् मूल विषय पर आते हैं। इन्होंने कहा कि प्रासंगिकता मूलक आलोचना ने तुलसी के साथ कबीर को खड़ा किया। तदनुसार तुलसी शास्त्रानुग सगुण भक्ति परम्परा के अभिजन कवि ठहराए गए और कबीर लोकमार्गी निर्गुण-परम्परा के जन-कवि।

कबीर ऐसे संत-शिरोमणि थे, जिन्होंने जीवन और जगत की वास्तविकता को पहचाना था और साथ ही ब्रह्म के तत्व को हृदय में धारण कर लिया था। इसीलिए तो कहते हैं कि –

कबीर कूता राम का, मूतिया मेरा नाउं ।
गलै राम की जेवड़ी, जित खंचै नित जाउं ।।

राम से ज्यादा उनका भला और कौन समझ सकता है, अतः अपने को राम के सुपुर्द कर पूरी तरह निश्चिंत हो जाओ। पूरा मन लगाकर, पूरी तरह निडर होकर अपना काम करो। वे कहते थे 'तुम दाता, तुम भंजना मेरी करो सम्हार' और इस अगाध विश्वास के बल पर बड़े से बड़े शत्रु के आगे छाती ठोंककर कह दिया कि–

'जाको राखौ-साइयां, मार न सकिहें कोय।
'हम सब भांहि, सकल हम भांही, हम थैं और
दूसरा नाही ।
कपट की भगति करै, जिन कोई,
अंत की बेद बहुत दुःख होई ।।

आज ईश्वर के प्रति अगाध विश्वास की बात पर प्रश्न चिन्ह तो जरूर लग गया है। लेकिन क्या गांधीजी के पास कबीर की पूंजी नहीं थी? गांधी जी ने चरखा, करघा, सत्य-अहिंसा, सभी के लिए धर्माधिकार की बात कबीर से ही तो प्राप्त की थी। संत कबीर और महात्मा गांधी में कई दृष्टियों से विचारों की एकरूपता मिलती है। जहाँ कबीर ने साखी में यह कहा : "मेरा मुझ में कुछ नहीं, जो कुछ है, सो तेरा। तेरा तुझको सौंपता क्या लागे मेरा।" वहीं गांधीजी ने कहा– 'ईश्वर पूर्ण आत्म-समर्पण के बिना संतुष्ट नहीं हो सकता'। "माला फेरे मन मुखी, तातै कछू न होइ। मन माला कौं फेरता, घर उजियारा होई'–'। कबीर ने कहा तो गांधी ने यह लिखा कि 'प्रार्थना या भजन जीभ से नहीं, हृदय से होता है।–' "कबीरा सोई पीर है जो जानै पर पीर। पीर पराई जान रे।"

असल में कबीर के उस रूप को मुखर नहीं किया गया जिसमें वे कहते हैं "कबिरा खड़ा बजार में मानै सबकी खैर, ना काहूँ से दोस्ती ना काहूँ से बैर।" बल्कि इसके स्थान पर उनके विद्रोही रूप को अधिक उभारा गया।

कबिरा खड़ा बजार में, लिये लुकाठी हाथ ।
जो घर फूँके आपना, सो चले हमारे साथ ।।
हमन है इश्क मस्ताना, हमन को होशियारी क्या?
रहै आजाद या जग में, हमन दुनिया से यारी क्या?

कबीर ने जब अपने आस-पास की सामाजिक बुराइयों और विषमताओं की तीष्णता को समझा और सीधे-सीधे अनुभव किया तो उन्होंने यह फैसला कर लिया कि इस पर

प्रवाह एकदम तीखा होना चाहिए और बिना किसी भेदभाव के। उनका जीवन हिंदू-मुसलमान चक्रवातों में बीता था अतः वे एक पक्षीय रह ही नहीं पाए। गौर से विचार करें तो आज भी लगभग हम उसी स्थिति से गुजर रहे हैं। राजनीतिक एवं सामाजिक के इर्द-गिर्द बिछाई जा रही हैं। राजनीतिक एवं सामाजिक दशा-अवदशा से हम भली भांति परिचित हैं। इससे छुटकारा पाने के लिए हमें उस संत की वाणी को पहचानना होगा जो कि न हिंदू था, न मुसलमान। धर्म-धर्म में, वर्ग-वर्ग में संघर्ष अपने आप बंद हो जाए यदि कबीर की समादर्शिता आ जाए।

'समदृष्टि सतगुरु किया दीया अविचल ज्ञान ।
जहँ देखौ तहँ एक ही दूजा नाहीं आन ।।

कबीर ने हिंदू और मुसलमान दोनों की दुर्बलताओं पर करारे व्यंग्य किए हैं। वे निर्भीक, स्पष्टवक्ता, विवेकशील और पक्षपात रहित थे –

'पाहन पूजै हरि मिलै, तो मैं पूजूँ पहार ।
तातै वह चक्की भली, पीस खाय संसार ।।

दूसरी तरफ –

कांकर पाथर जोड़ि कै मस्जिद लई चुनाय ।
ता चढ़ि मुल्ला वाँग दे, क्या बहरा हुआ खुदाय ।।

इसी प्रकार 'जो तू बाम्हन बम्हनी जाया, आन बाट तै क्यों नहिं आया' तो उन्होंने यह भी कहा कि "खाला केरी बेटी ब्याहे, घर में करै सगाई। कबीर ने दोनों के मिथ्याचारों पर भी कड़ा प्रहार किया। उन्होंने किसी की झूठी खुशामद नहीं की –

हिंदू बरत एकादसि साधे दूध सिंघारा सेती ।
अन्न को त्यागैं मन को न हटकैं पारन करैं सगौती ।।
तुरुक रोज निमाज गुजारैं बिसमिल बांग पुकारै ।
इनको बिहिस्त कहाँ से होवै जो सांझै मुरगी मारै ।।

इस प्रकार की विचारधारा से हमें लगता है कि कबीर क्रान्ति और बदलाव के हर ऐतिहासिक मोड़ पर सबसे अधिक अनिवार्य विचारक के रूप में प्रत्यक्ष होते रहते हैं। मनुष्य जब कभी सामाजिक रूढ़ियों और शोषणों के खिलाफ संगठित होगा, उसके वक्तव्य कबीर के ही वक्तव्य होंगे। वे मार्क्स जैसे आधुनिक विचारों के पूर्वपुरुष जान पड़ते हैं। शोषित समाज की पक्षधरता और व्यवस्था के शोषक चरित्र की नृशंसता को उन्होंने ही सनातन रूप से पहली बार पहचाना था। इसीलिए कबीर कविता के रसिकों के लिए ही नहीं अपितु तर्कपूर्ण मानवीय चिंतकों के लिए भी अकेले अग्रदूत हैं।

डॉ शुकदेव सिंह का कथन है कि कबीर का साहित्य इसलिए प्रासंगिक है कि वह जातिवाद और साम्प्रदायिकता जैसे अमानवीय संगठनों के खिलाफ है। कबीर का साहित्य इसलिए साहित्य है कि वह संख्ती की सीमा तक भारतीय संदर्भ में समाजवादी और जनवादी है। यह साहित्य आदमी के खिलाफ आदमी की हिकारत का दरवाजा बंद करता है। आज का मनुष्य संतों की विचारधारा और उनकी मानसिकता एवं संवेदना को अपने से बहुत निकट पा रहा है। संतों के विचार भक्तकालीन अन्य कवियों के मुकाबले अधिक वस्तुपरक और वैज्ञानिक है।

डॉ. बलदेव वंशी का विचार है कि कबीर राजनीति सत्ता व्यवस्था को निरंकुश नहीं अध्यात्म में बांधना चाहते थे। अपने समय के शासक सिकन्दर लोदी की सत्ता को कबीर ने अध्यात्मिक और नैतिकता के इसी मर्यादामंच से ललकारा था। सत्ता की चूलें हिल गई थीं। आज भी सत्ता व्यवस्था राजनीति, निरंकुश, स्वार्थी, अनैतिक और भ्रष्ट हो रही है। हिंदू-मूसलमान (अब तो और भी कई सम्प्रदायों, जैसे सिक्खों, ईसाइयों आदि) को वोटों की राजनीति, सत्ताशक्ति और गद्दी के लिए क्या-क्या घृणित हथकंडे नहीं अपना रही। कबीर ऐसी अराजक, अमानवीय प्रवृत्ति पर जन समाज को सजग करके अंकुश लगाने को प्रेरित करते हैं।

प्रत्येक परिवर्तन अपने समय के संदर्भ में होता है और उसी में सामाजिक और राजनीतिक अतिक्रमण की संभावना रहती है। इतिहास गवाह है कि हमारा देश भी अनेक विषम परिस्थितियों के दौर से गुजरा है और गुजर रहा है। कबीर का युग भी अनिश्चिताओं का युग था; जब मानव समाज अपनी लक्ष्य दृष्टि खो चुका था। वह निराशा, कुंठा, विषाद, विग्रह, ईर्ष्या, द्वेष काम, क्रोध आदि कई विकारों से ग्रस्त था। जिसका स्वरूप आज भी हम देख रहे हैं। तब कबीर ने अपने अनुभूत सत्यों के आधार पर जो कुछ कहा उसे अनुभव की धार पर परख कर डंके की चोप पर कहा, नहीं तो भला जिस व्यक्ति पर भरे-पूरे परिवार की जिम्मेदारी हो और जिसके परिवार में पूंजी के

नाम पर श्रम के सिवा और कुछ न हो। वह भला किस आधार पर समाज के सबसे शक्तिशाली लोगों से दुश्मनी मोल लेता।

कबीर का प्रबल आधार था उनकी असीम, गहरी एवं पूरे विश्वास की भक्तिभावना जिसमें किसी तरह के शक-सुबहा की गुंजाइश नहीं थी। कबीर ने अपने को पूरी तरह से अपने राम को सौंप दिया था। यही कारण है कि इनके द्वारा ओढ़कर रखी गई ज्यों-की-त्यों चादर आज भी जैसी-की तैसी बनी हुई है। डॉ. श्यामनन्दन किशोर का कथन है कि कबीर व्यावहारिक रहस्यवादी थे। इनका युगबोध और आत्मबोध, दोनों अत्यन्त सूक्ष्म तत्वपूर्ण और विस्तृत था। कबीर का साहित्य सत्य और शिव का समन्वय है। उसका सुन्दर उसके अक्खड़पन में विलीन हो गया है। दो टूक कहने वाले इस मोहमुक्त सन्यासी ने बाहर-भीतर को एक-रूप देखा। कबीर का उपदेश केवल दूसरों के लिए नहीं, उनके अपने जीवन से छनकर निकली हुई अनुभूति है। उनके नैतिक मूल्य बाहर सें ओढ़े हुए लबादे नहीं, उनके जीवन के निष्कर्ष है।

भारतीय जीवन दर्शन मूलतः कर्मप्रधान रहा है। कबीर कर्मवाद के साक्ष्य हैं। राम के नाम का ताना-बाना बुनते हुए कर्म को सर्वोच्च प्रधानता दी। राम नाम की चादर बुनकर बाजार में बेचते। कबीर ने 'संतोष धन' को सबसे बड़ा धन माना है, और समाज के लिए पेट की सीमा बांध दी है। जो कि आज का सबसे बड़ा आदर्श है क्योंकि हम लोग तो घर जोड़ने की माया में व्यस्त हैं।

सॉई इतना दीजिए जामें कुटुम्ब समाय ।
मैं भी भूखा ना रहूँ, साधु न भूखा जाय ।।
संत न बांधे गाठड़ी पेट समाता लेइ ।
साई सू सनमुष रहै, जहाँ मांगै तहाँ देई ।।

भारतीय संस्कृति में जो सुख त्याग में था वह भोग में नहीं लेकिन दुर्भाग्यवश आज भोग की संस्कृति इतनी प्रधान हो गई है कि सारे नैतिक मूल्य ध्वस्त हो रहे हैं। जबकि कबीर ने कहा कि –

सांच बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप ।
जाके हृदय सांच है, ताके हृदय आप ।।

विश्वासघात के चतुर्दिक वातावरण में आज कबीर का यह कथन कितना मार्ग-दर्शक है - 'कबीर तासौं प्रीति करि, जो निरबाहै ओरि।' लेकिन मनुष्य तो अवसरवादी बनकर केवल क्षणिक स्वार्थ की पूर्ति के लिए उसे अपनाता है। आज मित्रता की कसौटी मनुष्य की सहृदयता और निष्ठा नहीं, उसकी शक्ति-मत्ता है। कबीर के सारे आग्रह मनुष्य जीवन और जगत को संवारने के रहे हैं। उनकी सारी सोच और चिंताओं का केन्द्र जीवन रहा है। उनका रास्ता कर्म, सच्चरित्रता, नैतिकता, खरापन, संवेदनशीलता का है। इसे ही वे सहज योग की गरिमा देते हैं।

पिछले कई वर्षों से सार्वजनिक जीवन में अविश्वास, अपराध-ढोंग, टूटन, हिंसा, सत्ता प्राप्ति की लिप्सा, धन संचय की प्रवृत्ति, घोटाला, हवाला, भ्रष्टाचार, भाई-भतीजावाद, जान-पहचान, सम्प्रदायवाद, भाषा-जाति एवं प्रान्तवाद का बोलबाला बढ़ता गया है। त्याग, विनम्रता, सेवाभाव, निष्कामभाव, सौहार्द्र, संतोष और सद्भाव नदारद होते जा रहे हैं। जयशंकर की यह पंक्ति अधिक चरितार्थ हो रही है –

सौंदर्य जलधि से भर लाये, केवल तुम अपना गरल पात्र,

उपर्युक्त समस्त समस्याओं का निदान हमें कबीर की वाणी में मिलता है। जहाँ जीवन-जगत की कोई ऐसी समस्या नहीं है, जिसका कि हल न मिलता हो। कतिपय उदाहरण द्रष्टव्य है –

साधो एक रूप सब मांही ।
अपने मनहिं विचारि कै देखो और दूसरो नाहीं ।
एकै त्वचा रुधिर पुनि एकै विप्र सूद्र के माहीं ।।

तरुवर फल नहिं खात हैं, नदी न संचय नीर ।
परमारथ के कारने संतन धरा शरीर ।।
दोख पराए देखि करि, चल्या हसंत-हसंत ।
अपनी च्यंति न आनई, जिनकी आदि न अंत ।।
साधु ऐसा चाहिए, जैसा सूप सुभाय ।
सार-सार को गहि रहै, थोथा देइ उड़ाय ।।

इसी प्रकार की ढेरों ऐसी पंक्तियां है जिनके मनन-चिंतन से हम आज के भौतिक युग में शांति प्राप्त कर सकते हैं।

कबीर के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर शोधपूर्ण अध्ययन करने वाले हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कहा कि जातिगत कुलगत, धर्मगत, संस्कारगत, विश्वासगत, सम्प्रदायगत, बहुतेरी विशेषताओं के जाल को छिन्न करके ही वह आसन तैयार किया जा सकता है, जहाँ एक मनुष्य दूसरे से मनुष्य

की हैसियत से ही मिले। जब तक यह नहीं होता तब तक अशांति रहेगी, महामारी रहेगी, हिंसा प्रतिस्पर्धा रहेगी। कबीर ने इस महती साधना का बीज बोया था।

आधुनिक भारत के सर्वश्रेष्ठ कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर की रहस्यवादी कविताओं पर कबीर का प्रभाव स्पष्ट है। उन्होंने कबीर की रचनाओं का संकलन और अनुवाद भी किया है। इसी तरह हिन्दी के रहस्यवादी कवियों में प्रसाद, निराला, महादेवी वर्मा और डॉ. रामकुमार वर्मा की कविताओं पर उनका प्रभाव है।

प्रसाद के 'झरना', 'लहर' काव्यसंग्रहों तथा 'कामायनी' के दर्शन सर्ग में कबीर की आत्मा वर्तमान है। निराला की 'अनामिका' और 'परिमला' की कई रचनाओं में कबीर का दर्शन मौजूद है। "तुम और मैं" कविता में इसे देखा जा सकता है। 'अर्चना' और 'आराधना' के गीतों में भी वैसा ही अध्यात्मिक स्वर मुखर है। इसके साथ ही हमें निराला के अक्खड़पन और यथार्थवादी दृष्टि में भी कबीर के स्वभाव और विचार की झलक मिलती है। महादेवी का सम्पूर्ण काव्य ही कबीर की आध्यात्मिक विरह-भावना का आधुनिक स्वरूप है। आज कवि और साहित्यकार कबीर की मानसिकता को अपनी काव्य-संवेदना के काफी निकट पाता है। कबीर की निर्भीकता, दृढ़ता, यथार्थ-दर्शिता, मस्ती, फक्कड़नपन, विवेकशीलता, अभेद-दृष्टि और चारित्रिक निर्मलता आदि अन्य विशेषताएँ आज के कवि और साहित्यकार के लिए विशेष आकर्षण और महत्व रखती है।

हिन्दी साहित्य में प्रगतिवादी रचनाएं, प्रेमचंद का यथार्थपरक उपन्यास कबीर के विचारों से मेल खाता है। कालान्तर में मुक्तिबोध, प्रभाकर माचवे, रघुवीर सहाय, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, श्रीकान्त वर्मा, मुद्राराक्षस, राजकमल चौधरी और धूमिल जैसे कवि भी इनकी काव्य-मानसिकता से कहीं न कहीं जुड़े दिखाई देते हैं। हरिशंकर परसाई, शरद जोशी, के.पी. सक्सेना, गोपाल प्रसाद व्यास एवं अन्य हास्य-व्यंग्य के रचनाकारों की रचनाओं में कबीर की सामाजिक एवं राजनीतिक विसंगतियों के व्यंग्यात्मक चित्र मिलते हैं। कतिपय समीक्षकों ने तो साठोत्तरी पीढ़ी की कविता को 'कबीर-पीढ़ी' की कविता कहा। इसका कारण है कि सन् 1960 के बाद जिस प्रकार की परिस्थितियों का निर्माण हुआ और आज हो रहा है, उसमें संत कवियों के विचारों की भूमिका अहं हो गई है। कबीर के अतिरिक्त रैदास, पीपा, धन्ना, दादू, रज्जब, सुंदरदास, मलूकदास हरिदास, नानक, नरसी, नामदेव, तुकाराम और एकनाथ आदि संतों ने भारत के विभिन्न भू-भागों पर करुणा, त्याग, क्षमा, अहिंसा, परोपकार और समता जैसे मानवीयमूल्यों का संदेश दिया।

कबीर की अनुभूति और अभिव्यक्ति दोनों विलक्षण थी। इनकी भाषा शक्ति को समझने के लिए कोशों और संदर्भग्रंथों की उतनी आवश्यकता नहीं है जितनी की जनभाषा के सर्वेक्षण की। कबीर की पूरी अभिव्यक्ति को समझने के लिए गांव-गांव, गली-कूँचों, खेत-खलिहानों, चमार, डोमों, नाई, तेली धोबी, बाम्हन, कसाई, नट, बाजीगर, रंडी, रांडों, चोरो, दलालों मल्लाहों, और जुलाहों की घरेलू जातीय प्रजातीय भाषा संपदा का संग्रह अपेक्षित है। इसलिए कबीर साहित्य की प्रासंगिकता का एक पक्ष लोकजीवन के सर्वेक्षण विश्लेषण से भी जुड़ा है।

सामाजिक विसंगतियों के संदर्भ में कबीर की भाषा डंडमार एवं प्रहार की रही है : जिसे कि सम्बोधनात्मक एवं व्यंग्यात्मक शैली में व्यक्त किया गया है। कतिपय समीक्षकों ने इसे विद्रोह की भाषा कहा है। इसका कारण था कबीर के निजी जीवन का संघर्ष एवं तत्कालीन परिस्थितियाँ। जनहित एवं सच्ची भावना से किया गया विद्रोह मंगलकारी होता है। विद्रोह भी एक मूल्य है।

साठोत्तरी समकालीन रचनाकारों में कबीर की भाषा के गुण पाए जाते हैं। जिसमें विशेषकर राजकमल चौधरी, धूमिल और लीलाधर जगूड़ी आदि का नाम उल्लेखनीय है। कबीर की भाषा यामावरी की है। इसमें कई भाषाओं और बोलियों का मिश्रण है। पूरब में भोजपूरी से लेकर राजस्थानी तक उनका भाषिक संवेदनात्मक विस्तार है। रमता जोगी बहता पानी-की तरह भाषा भी बहती रही। कहीं ठहराव को स्थान नहीं था। इन्हें सुनी-सुनाई बातों का ज्ञान था। कबीर ने भावों को व्यक्त करने में शब्दों को संवारकर नहीं रखा। एक तरह से उबड़-खाभड़ भाषा का

प्रयोग मिलता है। चूँकि भाषा जनमानस में बोली जाती थी और लोगों के रोजमर्रा के जीवन से जुड़ी थी, इसलिए काफी लोकप्रिय हुई।

कबीर की काव्यभाषा का एक विचित्र स्वरूप उनकी उलट-वासियों में दिखायी देता है जिसे कतिपय टीकाकारों ने प्रतीकों, लक्षणों एवं दार्शनिक भावनाओं से जोड़ने का प्रयास किया है। इनकी उलटवासियों में सबकुछ उलटा-पुलटा है, जो कि असंभव और अविश्वसनीय लगता है। काव्य की अराजक स्थिति है।

एक अचंभा देखा रे भाई, ठाढ़ा सिंह चरावै गाईं ।
पहलैं पूत पीछैं भई माईं, चेला कै गुर लागै पाई ।।

यहाँ एक प्रश्न उठता है कि क्या वह युग अराजकता का नहीं था? लगता है कि कबीर अपनी उलटवासियों के माध्यम से युग की अवदशा को व्यक्त कर रहे थे जहाँ कि सबकुछ सामान्य नहीं था बल्कि असंतुलित और असहज था। दार्शनिकता के धरातल पर उलटवासियाँ रहस्यात्मकता का एक स्तर पर उपहास भी करती है और रहस्यमयता को उतना अनगढ़ और जटिल बनाकर प्रस्तुत करती हैं कि रहस्यमयता का नाटक ही खारिज हो जाए। इस तरह उलटवासियों की भाषा एक ओर भाषा का सरलीकरण है तो दूसरी ओर जटिल भाषा का मुँहतोड़ उत्तर भी।

प्रयोगवाद, नई कविता और सन् 1960 के बाद की अधिकांश कविताएं हमारे निजी एवं परिवेशगत जीवन से तो जरूर जुड़ी लेकिन उनके अर्थ को समझना कबीर की उलटवासियों से आसान नहीं है। वैसे कुछ पदों को छोड़कर कबीर की समग्र रचनाएँ लोकजीवन की है और लोकजीवन के लिए उन्हीं की भाषा में लिखी गयी है। जो कि हमारे लिए आज भी प्रासंगिक है। रामस्वरूप चतुर्वेदी का कथन है कि भाषा, संवेदना, विचार-प्रणाली सभी दृष्टियों से कबीर शास्त्रीयता के समक्ष खांटी देशीपन को महत्व देते हैं। 'संसकिरित के कूप-जल' को छोड़कर वे भारवा के बहते नीर तक स्वयं पहुँचते हैं और सबको पहुँचाते हैं। संस्कृत से मुक्त लोक-संस्कृत को बनाने में उनका योगदान अप्रतिम है। पंडित और मुल्ला यहाँ दोनों को वे एक साथ अप्रासंगिक करार देते हैं। मूलतः कवि होने के नाते शास्त्र की तुलना में वे अनुभव को प्रामाणिक मानते हैं। 'भारवापन' को लेकर यह गहरा आत्मविश्वास-भाव उनके रचनाकार व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता कही जा सकती है। भारवा के पहले बड़े कवि होने के नाते वे युगीन संवेदना की इस मांग को पूरा करते हैं।"

कबीर की प्रासंगिकता का प्रश्न व्यापक एवं बहुआयामी है। यह समसामयिक सार्थकता तक ही समाप्त होने वाला नहीं है। क्योंकि आज जिस प्रकार से सामाजिक एवं राजनीतिक व्यवस्था का गठन हो रहा है, उसमें कबीर एवं संत साहित्य की प्रासंगिकता बनी रहेगी। सामाजिक विषमता की कटुता बढ़ती ही जा रही है और राजनीति सत्तालोलुप एवं स्वार्थी हो गई है। कबीर पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने विभिन्न, धर्मों, सम्प्रदायों, जातियों और वर्णों को नकारकर ऐसे समाज की स्थापना का प्रयास किया जिसमें धर्म, सम्प्रदाय ऊँच-नीच के भेद-भाव के लिए कोई स्थान नहीं है। पीड़ित, शोषित अपमानित जनसमाज के दुःख से जितना सरोकार कबीर का रहा है उतना भक्तिकाल के किस अन्य कवि का नहीं। उनका सबसे बड़ा योगदान शोषित-पीड़ित दलित, अपमानित मानवजाति में सम्मान की भावना जागृत करना रहा है। अपने अस्तित्व की रक्षा, सामाजिक न्याय और सम्मान की पढ़ाई में हमें आज भी कबीर का नेतृत्व प्रधान है। इनकी मध्ययुगीन परिवेशगत विसंगतियों के प्रति विद्रोहात्मक एवं यथार्थपरक दृष्टि, निर्भीक ओजस्वी स्वर, पारदर्शी चिंतन, साम्यभाव, नैतिक मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा का विचार, धर्म-कर्म की समन्वय भावना और लोक-भाषा आदि के गुण आधुनिक साहित्य की संवेदना एवं परिस्थितियों के निकट प्रतीत हो रही हैं। श्रेष्ठ कवि त्रिकालदर्शी होता है और वह जितना अधिक वर्तमान में जीता है, उससे कहीं अधिक भविष्य में। इस संदर्भ में कबीर की प्रासंगिकता का सवाल बना ही रहेगा क्योंकि उन्होंने जिन मूल्यों के लिए संघर्ष किया उनके समाधान का कोई सही उपाय नहीं ढूँढा गया।

रीडर एवं अध्यक्ष
हिन्दी विभाग,
गोवा विश्वविद्यालय,
गोवा - 403 206